

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा एवं प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध

आकाश आर्य¹, डॉ. देवेन्द्र सिंह²

¹शोधार्थी, वैदिक अध्ययन विभाग

²विभागाध्यक्ष, संस्कृत भाषा एवं साहित्य विभाग

साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

DOI : <https://doi.org/10.5281/zenodo.23656740>

सारांश

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध का विचार क्रमशः विकसित होता दिखाई देता है। ऋग्वेद में विश्व की उत्पत्ति, विराट सत्ता और एकत्व के प्रश्न उठते हैं। नासदीय सूक्त सृष्टि के मूल कारण के सम्बन्ध में प्रश्नात्मक एवं दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत करता है। पुरुषसूक्त विश्व को विराट पुरुष के रूप में देखता है। आगे चलकर ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञ तथा ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के सम्बन्ध को विकसित किया जाता है। उपनिषदों में यही चिन्तन आत्मा और ब्रह्म की एकता की ओर अग्रसर होता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" जैसे महावाक्य इस दार्शनिक विकास के प्रमुख बिन्दु हैं। प्रकृति यहाँ केवल भौतिक जगत नहीं रहती, बल्कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति और आत्मानुभूति के क्षेत्र के रूप में सामने आती है। अतः वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध को एक क्रमिक दार्शनिक विकास के रूप में समझना आवश्यक है।

बीजशब्द: ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति, वैदिक वाङ्मय, उपनिषद्, पुरुष, ऋत, चेतना।

1. प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक परम्परा में **ब्रह्म, आत्मा एवं प्रकृति** से सम्बन्धित चिन्तन अत्यन्त प्राचीन, व्यापक और बहुआयामी है। वैदिक वाङ्मय में मनुष्य ने केवल अपने बाह्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति पर विचार नहीं किया, बल्कि अपने अस्तित्व, जगत् की उत्पत्ति, चेतना के स्वरूप तथा सम्पूर्ण सृष्टि के मूल आधार को जानने का भी सतत् प्रयास किया। ऋग्वेद के विभिन्न सूक्तों में सूर्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, द्यौः, उषस् तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियों के माध्यम से विश्व की विराटता और उसके नियामक तत्त्व को समझने की जिज्ञासा व्यक्त हुई है। नासदीय सूक्त में सृष्टि के आरम्भ की स्थिति को लेकर जिस प्रकार प्रश्न उपस्थित किए गए हैं, वे वैदिक ऋषियों की दार्शनिक जिज्ञासा की गम्भीरता को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार पुरुषसूक्त में सम्पूर्ण चराचर जगत् को विराट पुरुष के साथ सम्बद्ध किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक चिन्तन में विश्व की विविधता के पीछे एक व्यापक एकता की खोज निरन्तर चलती रही। प्रकृति

इसलिए केवल दृश्य और भौतिक जगत् नहीं रही, बल्कि वह उस व्यापक सत्ता की अभिव्यक्ति और अनुभूति का क्षेत्र भी बनी, जिसके मूल स्वरूप को जानने के लिए वैदिक ऋषियों ने विविध स्तरों पर चिन्तन किया।

वैदिक साहित्य की विकास-यात्रा के साथ यह चिन्तन बाह्य प्रकृति से अन्तःस्थित चेतना की ओर अधिक गहराई से उन्मुख हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ और ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के बीच सम्बन्ध स्थापित हुआ, जबकि आरण्यक साहित्य में यज्ञीय कर्मों के प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक अर्थों पर विचार विकसित हुआ। उपनिषदों में यही जिज्ञासा आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की खोज में परिणत होती है। **“सर्वं खल्विदं ब्रह्म”, “तत्त्वमसि”, “प्रज्ञानं ब्रह्म”** तथा **“अहं ब्रह्मास्मि”** जैसे वाक्य इस दार्शनिक यात्रा के महत्वपूर्ण पड़ाव हैं। आत्मा को केवल शरीर अथवा मन की सीमित सत्ता न मानकर चेतना के गहनतम आधार के रूप में समझने का प्रयास किया गया। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है: **“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।”** यहाँ आत्मज्ञान को श्रवण, मनन और निदिध्यासन की क्रमिक साधना से सम्बद्ध किया गया है। दूसरी ओर, ब्रह्म को ऐसी व्यापक सत्ता के रूप में देखा गया जो सम्पूर्ण अस्तित्व के मूल में स्थित है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में बाह्य जगत् की खोज धीरे-धीरे मनुष्य के अन्तर्जगत् की खोज में परिवर्तित होती है और प्रकृति, आत्मा तथा ब्रह्म के मध्य सम्बन्ध को समझने की दार्शनिक भूमि तैयार होती है।

प्रकृति इस वैदिक-उपनिषद् चिन्तन में तीसरे महत्वपूर्ण आयाम के रूप में उपस्थित होती है। यद्यपि बाद के सांख्य दर्शन में प्राप्त “प्रकृति” की सुव्यवस्थित तात्त्विक अवधारणा को सीधे वैदिक साहित्य पर आरोपित करना उचित नहीं है, तथापि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, वनस्पति, पर्वत और नदियों के प्रति वैदिक दृष्टि अत्यन्त समृद्ध है। मनुष्य का शरीर अन्न और जल पर आश्रित है, जीवन प्राण पर निर्भर है तथा उसका सम्पूर्ण भौतिक अस्तित्व प्राकृतिक जगत् से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार प्रकृति मनुष्य से बाहर स्थित कोई पूर्णतः पृथक् सत्ता नहीं है। वह उसके जीवन और अनुभव की आधारभूमि है। ईशावास्योपनिषद् का **“ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्”** कथन सम्पूर्ण जगत् को व्यापक दैवी सत्ता से सम्बद्ध करता है और मनुष्य के लिए संयमित उपभोग तथा उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से प्रकृति का सम्बन्ध केवल भौतिक आवश्यकताओं से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक चेतना और नैतिक जीवन से भी जुड़ जाता है। प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण व्यक्ति की आध्यात्मिक परिपक्वता का संकेत बन सकता है, क्योंकि व्यापक चेतना मनुष्य को अपने सीमित स्वार्थ से ऊपर उठकर समस्त जीवन-जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा देती है।

ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के इस पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन इसलिए महत्वपूर्ण है कि इससे भारतीय चिन्तन में व्यक्ति, जगत् और परम सत्ता के बीच स्थापित सम्बन्ध की समग्र तस्वीर सामने आती है। ब्रह्म

व्यापक अस्तित्व के परम आधार का बोध कराता है, आत्मा व्यक्ति के भीतर स्थित चेतना की ओर संकेत करती है और प्रकृति उस अस्तित्व की दृश्य तथा अनुभूत अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। इन तीनों को पूर्णतः पृथक् मानने की अपेक्षा इनके अन्तर्सम्बन्ध को समझने पर वैदिक वाङ्मय की दार्शनिक दृष्टि अधिक स्पष्ट होती है। तथापि इस सम्बन्ध की व्याख्या करते समय ऐतिहासिक और आलोचनात्मक सावधानी आवश्यक है, क्योंकि ऋग्वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् विभिन्न वैचारिक चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा बाद के वेदान्त, सांख्य और योग दर्शन ने इन अवधारणाओं को अपने-अपने दार्शनिक ढाँचे में विकसित किया। अतः प्रस्तुत विषय का अध्ययन विकासात्मक, तुलनात्मक और सन्दर्भपरक दृष्टि से किया जाना अपेक्षित है, ताकि वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति की वास्तविक अवधारणा तथा उनके मध्य निहित दार्शनिक अन्तर्सम्बन्ध को उसके मूल सन्दर्भ में समझा जा सके।

2. ब्रह्म की वैदिक अवधारणा

“ब्रह्म” वैदिक एवं उपनिषद् साहित्य की उन दार्शनिक अवधारणाओं में है, जिसका स्वरूप एक दीर्घ वैचारिक विकास के पश्चात् अधिक स्पष्ट हुआ। वैदिक साहित्य के आरम्भिक स्तर पर “ब्रह्म” का प्रयोग मुख्यतः मन्त्र, पवित्र वाणी, प्रार्थना अथवा यज्ञीय शक्ति के अर्थ में मिलता है, किन्तु कालान्तर में यही अवधारणा विश्व की मूल, व्यापक और सर्वव्यापी सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित होती गई। ऋग्वैदिक ऋषियों के समक्ष जब सृष्टि की उत्पत्ति, उसके संचालन और उसके अन्तर्निहित आधार का प्रश्न उपस्थित हुआ, तब उन्होंने प्रकृति की विविध शक्तियों के पीछे किसी एक व्यापक तत्त्व की सम्भावना का अनुभव किया। ऋग्वेद का प्रसिद्ध नासदीय सूक्त इस जिज्ञासा को अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक रूप में प्रस्तुत करता है। वहाँ सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व की अवस्था के विषय में प्रश्न करते हुए ऋषि कहते हैं:

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं

नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः

किमासीद्बहनं गभीरम्॥

(ऋग्वेद 10.129.1)

इस मन्त्र में सृष्टि के मूल स्वरूप को लेकर निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत करने के स्थान पर जिज्ञासा और चिन्तन की प्रक्रिया को प्रमुखता दी गई है। यही प्रश्नपरकता वैदिक चिन्तन की दार्शनिक गम्भीरता को प्रकट करती है। ऋषि के लिए जगत् केवल दिखाई देने वाली वस्तुओं का समूह नहीं है, बल्कि उसके पीछे किसी गहन और अप्रत्यक्ष आधार की खोज आवश्यक है। इसी खोज की परिणति आगे चलकर ब्रह्म की व्यापक अवधारणा में दिखाई देती है। उपनिषदों में ब्रह्म को ऐसी परम सत्ता के रूप में ग्रहण किया गया जो दृश्य-अदृश्य, स्थूल-सूक्ष्म और व्यक्त-अव्यक्त समस्त अस्तित्व का आधार है। इस प्रकार ब्रह्म की

अवधारणा प्रकृति के निषेध से नहीं, बल्कि प्रकृति के अस्तित्व के मूलाधार की खोज से विकसित होती है। ब्रह्म को सीमित वस्तु के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं सभी सीमाओं के पार स्थित व्यापक सत्ता का बोध कराता है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध पर विचार करते समय उसके ऐतिहासिक विकास और विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त अर्थों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

3. आत्मा की अवधारणा

आत्मा का विचार वैदिक वाङ्मय में मानव के बाह्य अस्तित्व से उसके अन्तर्जगत् की ओर अग्रसर होने वाली दार्शनिक यात्रा का प्रतिनिधित्व करता है। आरम्भिक वैदिक चिन्तन में जीवन, श्वास, प्राण और चेतना के प्रति जो जिज्ञासा दिखाई देती है, वही आगे चलकर आत्मा की सूक्ष्म अवधारणा के विकास का आधार बनती है। मनुष्य केवल शरीर, इन्द्रियों और बाह्य कर्मों का समुच्चय नहीं है; उसके भीतर ऐसी सत्ता भी विद्यमान है जो अनुभव करती है, विचार करती है, स्मरण करती है और स्वयं के अस्तित्व पर प्रश्न उठाती है। उपनिषदों ने इसी अन्तःसत्ता की खोज को आध्यात्मिक साधना का केन्द्र बनाया। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के ज्ञान के लिए स्पष्ट निर्देश मिलता है:

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

यहाँ आत्मा के ज्ञान के लिए केवल श्रवण पर्याप्त नहीं माना गया है। श्रवण के पश्चात् मनन और फिर निदिध्यासन की आवश्यकता स्वीकार की गई है। इससे आत्मज्ञान की प्रक्रिया बौद्धिक सूचना से आगे बढ़कर अनुभूति और आत्मसाक्षात्कार की दिशा ग्रहण करती है। आत्मा को जानना वस्तुओं के बाह्य ज्ञान से भिन्न प्रकार का ज्ञान है, क्योंकि यहाँ ज्ञाता स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप की खोज करता है। इस दृष्टि से आत्मा वैदिक आध्यात्मिक चिन्तन में अन्तर्मुखी चेतना का केन्द्र बनती है। बाह्य जगत् का ज्ञान इन्द्रियों और मन के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु आत्मा की अनुभूति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि, मनन और ध्यान की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि उपनिषदों में आत्मा की खोज को मनुष्य के परम प्रयोजन से जोड़ा गया है। आत्मा का बोध व्यक्ति को अपने सीमित अहंकार, भौतिक आसक्ति और बाह्य पहचान से ऊपर उठाकर अस्तित्व के व्यापक स्वरूप की ओर ले जाता है। इस प्रकार आत्मा की अवधारणा वैदिक वाङ्मय में व्यक्ति के भीतर स्थित उस चेतन तत्त्व की खोज है, जिसके माध्यम से व्यक्ति स्वयं, जगत् और परम सत्ता के सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करता है।

4. प्रकृति की अवधारणा

वैदिक वाङ्मय में “प्रकृति” का वह व्यवस्थित दार्शनिक स्वरूप नहीं मिलता जो बाद के सांख्य दर्शन में पुरुष के प्रतिपक्ष के रूप में विकसित हुआ। फिर भी वैदिक साहित्य में प्राकृतिक जगत् के प्रति अत्यन्त समृद्ध और सूक्ष्म दृष्टि दिखाई देती है। पृथ्वी, आपः, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, नदियाँ, वनस्पतियाँ

और ऋतुएँ वैदिक जीवन-दृष्टि के अभिन्न अंग हैं। प्रकृति मनुष्य के जीवन का बाह्य परिवेश मात्र नहीं है, बल्कि उसकी आजीविका, धार्मिक क्रियाओं, यज्ञीय परम्पराओं और आध्यात्मिक अनुभूतियों का आधार भी है। वर्षा कृषि को जीवन प्रदान करती है, पृथ्वी अन्न और वनस्पतियों को धारण करती है, सूर्य प्रकाश एवं ऊष्मा देता है, वायु जीवन के लिए आवश्यक है और अग्नि यज्ञ तथा दैनिक जीवन की अनेक प्रक्रियाओं का आधार बनती है। इस प्रकार प्राकृतिक जगत् वैदिक मानव के लिए जीवन-निर्वाह और आध्यात्मिक अनुभव दोनों का क्षेत्र था। प्रकृति के इन विभिन्न रूपों को दैवी शक्तियों से सम्बद्ध करके वैदिक ऋषियों ने उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता की भावना व्यक्त की। यहाँ प्रकृति को पूर्णतः निष्प्राण पदार्थ मानने की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। वह शक्तियों, प्रक्रियाओं और सम्बन्धों से निर्मित जीवंत जगत् है। इसी कारण वैदिक प्रकृति-दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य के बीच विरोध की अपेक्षा परस्पर निर्भरता अधिक स्पष्ट होती है। प्रकृति मनुष्य को जीवन देती है और मनुष्य यज्ञ, स्तुति, संयम तथा कृतज्ञता के माध्यम से उसके प्रति अपना दायित्व स्वीकार करता है। इस दृष्टि से प्रकृति का अध्ययन वैदिक जीवन-पद्धति, धर्म और दर्शन को समझने के लिए अनिवार्य हो जाता है।

6. ब्रह्म और प्रकृति

ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध वैदिक तथा उपनिषद् साहित्य में अत्यन्त सूक्ष्म प्रश्न के रूप में सामने आता है। उपनिषदों में ब्रह्म को विश्व के आधारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए जगत् की वास्तविकता और उसके मूल स्वरूप पर विचार किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् का प्रसिद्ध कथन है:

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

(छान्दोग्योपनिषद् 3.14.1)

यह वाक्य सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म के साथ सम्बन्धित करता है। यहाँ ब्रह्म किसी सीमित वस्तु अथवा किसी एक प्राकृतिक तत्त्व तक सीमित नहीं है। वह सम्पूर्ण अस्तित्व का व्यापक आधार है। इस दृष्टि से प्रकृति को ब्रह्म से पूर्णतः पृथक् और असम्बद्ध सत्ता मानना सरल नहीं रहता। दृश्य जगत् ब्रह्माण्डीय सत्ता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है। तथापि उपनिषदों के विभिन्न स्थलों पर ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में हुई है। इसलिए बाद के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा अन्य वेदान्तीय मतों की विकसित व्याख्याओं को सीधे-सीधे प्रत्येक उपनिषद् मन्त्र का मूल अर्थ मानना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। उपनिषदों का मूल चिन्तन अधिक प्रश्नपरक और बहुस्तरीय है। कहीं ब्रह्म को जगत् के कारण के रूप में देखा गया है, कहीं उसे आत्मा के रूप में अनुभव करने की दिशा दिखाई देती है और कहीं सम्पूर्ण जगत् को उसी व्यापक सत्ता से सम्बन्धित माना गया है। इस प्रकार ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध एक स्थिर दार्शनिक सूत्र के स्थान पर निरन्तर विकसित होने वाली वैचारिक प्रक्रिया के रूप

में सामने आता है। प्रकृति यहाँ केवल भौतिक दृश्यता नहीं है, बल्कि उस परम तत्त्व की अनुभूति का क्षेत्र है, जिसके आधार पर अस्तित्व की समग्रता को समझने का प्रयास किया जाता है।

7. आत्मा और ब्रह्म

आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध की खोज उपनिषद्-दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में मानी जाती है। वैदिक चिन्तन में जहाँ प्रारम्भिक स्तर पर विश्व और उसकी नियामक शक्तियों के प्रति जिज्ञासा दिखाई देती है, वहीं उपनिषदों में वही जिज्ञासा मनुष्य के अन्तःकरण की ओर मुड़ती है। प्रश्न यह बन जाता है कि जो सत्ता इस विशाल विश्व को आधार देती है, क्या वही सत्ता मनुष्य के भीतर भी विद्यमान है? छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु का संवाद इस प्रश्न को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करता है। उद्दालक अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से श्वेतकेतु को उस सूक्ष्म तत्त्व का बोध कराने का प्रयास करते हैं जो दृश्य विविधता के भीतर विद्यमान है। इसी क्रम में कहा जाता है:

तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

(छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7)

यह वाक्य आत्मा और व्यापक परम तत्त्व के सम्बन्ध को समझने की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त ने बाद में इसकी व्याख्या जीवात्मा और ब्रह्म की अभिन्नता के रूप में की, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसके मूल उपनिषद्-सन्दर्भ को भी समान महत्त्व देना आवश्यक है। इस कथन का मूल प्रयोजन व्यक्ति को उसकी सीमित पहचान से आगे ले जाकर उस सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व की ओर उन्मुख करना है जो सम्पूर्ण अस्तित्व में व्याप्त है। आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का यह चिन्तन मनुष्य को केवल बाह्य उपलब्धियों से सन्तुष्ट रहने के स्थान पर अपने अस्तित्व की मूल प्रकृति पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है। यहाँ आत्मज्ञान केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक अनुभव नहीं रह जाता, बल्कि विश्व और व्यक्ति के सम्बन्ध को समझने की दार्शनिक प्रक्रिया बन जाता है। यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाए, तो मनुष्य अपने और जगत् के बीच विद्यमान कृत्रिम विभाजन को भी पुनः विचार सकता है। इसीलिए आत्मा-ब्रह्म सम्बन्ध भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन में मुक्ति, ज्ञान और आत्मसाक्षात्कार के प्रश्न से गहरे रूप में जुड़ जाता है।

8. आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध

आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध को समझने के लिए मनुष्य के शरीर, प्राण, मन और चेतना के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है। मनुष्य का भौतिक शरीर प्रकृति के विभिन्न तत्वों से निर्मित है और उसके अस्तित्व की निरन्तरता अन्न, जल, वायु तथा ऊर्जा पर निर्भर रहती है। इस दृष्टि से व्यक्ति

प्रकृति से बाहर खड़ी हुई सत्ता नहीं है। उसका शरीर प्रकृति का अंग है और उसकी जीवन-प्रक्रियाएँ प्राकृतिक जगत् के साथ निरन्तर सम्बन्ध में संचालित होती हैं। उपनिषदों ने इस सम्बन्ध को केवल भौतिक स्तर तक सीमित नहीं रखा। तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों की कल्पना के माध्यम से मानव अस्तित्व की बहुस्तरीय संरचना प्रस्तुत की गई है। अन्नमय कोश मनुष्य के भौतिक अस्तित्व को व्यक्त करता है, जबकि प्राणमय स्तर जीवन की गति और ऊर्जा से सम्बन्धित है। मनोमय तथा विज्ञानमय स्तर चेतना की सूक्ष्म अवस्थाओं की ओर संकेत करते हैं और आनन्दमय स्तर आध्यात्मिक अनुभूति की दिशा में ले जाता है। इस प्रकार मनुष्य के भीतर प्रकृति और चेतना का एक जटिल सम्बन्ध विद्यमान है। शरीर प्रकृति से सम्बद्ध है, किन्तु आत्मा की खोज शरीर से परे अन्तःचेतना की ओर अग्रसर होती है। इस सम्बन्ध को समझते हुए यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक-उपनिषद् परम्परा में प्रकृति को आध्यात्मिक ज्ञान की बाधा के रूप में ही नहीं देखा गया। प्रकृति स्वयं आत्मानुभूति की प्रक्रिया का प्रारम्भिक आधार बन सकती है। अन्न से प्राण, प्राण से मन और मन से सूक्ष्म चेतना की ओर बढ़ने वाली दृष्टि मनुष्य के अस्तित्व को प्रकृति और आत्मा के बीच एक जीवंत सेतु के रूप में प्रस्तुत करती है।

9. ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति का त्रिकोण

वैदिक वाङ्मय के समग्र अध्ययन से ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के मध्य एक गहन दार्शनिक सम्बन्ध का संकेत प्राप्त होता है। ब्रह्म व्यापक और परम सत्ता का बोध कराता है, आत्मा व्यक्ति के अन्तःस्थित चेतन तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है और प्रकृति दृश्य तथा अनुभूत जगत् की आधारभूमि प्रस्तुत करती है। इन तीनों को पूर्णतः पृथक् सत्ता मानने पर वैदिक-उपनिषद् चिन्तन की अन्तर्सम्बन्धात्मक प्रकृति स्पष्ट नहीं हो पाती। वैदिक ऋषि विश्व को एक ऐसी समग्रता के रूप में देखते हैं जिसमें मनुष्य, प्रकृति और परम सत्ता परस्पर सम्बन्धित हैं। पुरुषसूक्त की विराट सत्ता, नासदीय सूक्त की सृष्टि-जिज्ञासा, ऋत की ब्रह्माण्डीय व्यवस्था तथा उपनिषदों का आत्मविद्या-विमर्श इसी व्यापक चिन्तन-परम्परा के विभिन्न चरणों को व्यक्त करते हैं। ब्रह्म की खोज बाह्य जगत् से आरम्भ होकर आत्मा की ओर आती है और आत्मा की खोज पुनः सम्पूर्ण जगत् के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध को नये ढंग से देखने की क्षमता प्रदान करती है। प्रकृति इस प्रक्रिया से बाहर नहीं रहती। वह मनुष्य के अनुभव का आधार है और उसी के माध्यम से वह ब्रह्माण्ड की व्यापकता का अनुभव करता है। इसीलिए ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध किसी साधारण त्रिभुज की भाँति तीन पृथक् बिन्दुओं का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि अस्तित्व की समग्रता को समझने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है। ब्रह्म व्यापक आधार है, आत्मा उसका अन्तर्मुखी बोध कराती है और प्रकृति उस अस्तित्व की दृश्य अभिव्यक्ति तथा अनुभवभूमि बनती है।

10. “प्रज्ञानं ब्रह्म” और चेतना

ऐतरेय उपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य “**प्रज्ञानं ब्रह्म**” वैदिक दार्शनिक चिन्तन में चेतना की सर्वोच्च भूमिका को उद्घाटित करता है। प्रज्ञान का सामान्य अर्थ ज्ञान, चेतना अथवा बोध की शक्ति से सम्बद्ध किया जाता है। जब प्रज्ञान को ब्रह्म कहा जाता है, तब ब्रह्म को केवल बाह्य जगत् के किसी अज्ञात कारण के रूप में देखने के स्थान पर चेतना के मूलाधार के रूप में समझने की दिशा प्राप्त होती है। इस दृष्टि से आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध और अधिक सूक्ष्म हो जाता है। मनुष्य संसार को इसलिए अनुभव करता है क्योंकि उसके भीतर चेतना का प्रकाश विद्यमान है। प्रकृति अनुभव का क्षेत्र प्रदान करती है, जबकि चेतना उस अनुभव को सम्भव बनाती है। इस प्रकार प्रकृति और चेतना के बीच सम्बन्ध केवल ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं है; यह अस्तित्व और अनुभूति के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न भी है। ऐतरेय उपनिषद् का यह महावाक्य बाद की भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। अद्वैत वेदान्त ने इसे ब्रह्म के चैतन्यस्वरूप के समर्थन में महत्त्वपूर्ण माना। फिर भी वैदिक वाङ्मय के ऐतिहासिक अध्ययन में मूल पाठ और उत्तरवर्ती दार्शनिक व्याख्या के मध्य अन्तर बनाए रखना आवश्यक है। “प्रज्ञानं ब्रह्म” का महत्त्व इस बात में है कि यह मनुष्य को बाह्य पदार्थों की अनन्त खोज से हटाकर उस चेतन सत्ता की ओर उन्मुख करता है जिसके माध्यम से सम्पूर्ण जगत् का अनुभव सम्भव होता है। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना ब्रह्म और आत्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली प्रमुख कड़ी बन जाती है।

11. “अहं ब्रह्मास्मि” और आत्मानुभूति

बृहदारण्यक उपनिषद् का “**अहं ब्रह्मास्मि**” वाक्य आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को अत्यन्त संक्षिप्त और प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करता है। इस वाक्य में “अहम्” का अर्थ सामान्य अहंकार या व्यक्तिगत अभिमान नहीं है। दार्शनिक सन्दर्भ में यह उस आत्मसत्ता की ओर संकेत करता है जो व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप की खोज का विषय बनती है। अद्वैत वेदान्त ने इस महावाक्य को जीवात्मा और ब्रह्म की अभिन्नता के प्रमुख प्रतिपादनों में स्वीकार किया। इससे आत्मज्ञान की प्रक्रिया केवल व्यक्तिगत आत्म-परिचय तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह सम्पूर्ण अस्तित्व की एकता की अनुभूति की दिशा में अग्रसर होती है। यदि आत्मा का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म से सम्बद्ध है, तो व्यक्ति और विश्व के मध्य दिखाई देने वाला विभाजन भी पुनर्विचार का विषय बनता है। यही कारण है कि आत्मानुभूति वैदिक आध्यात्मिक परम्परा में केवल मानसिक शान्ति की अवस्था नहीं, बल्कि अस्तित्व की वास्तविकता को जानने की प्रक्रिया बनती है। इस अनुभूति में प्रकृति भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आत्मा जिस जगत् में अपने अस्तित्व का अनुभव करती है, वह जगत् प्रकृति के विविध रूपों से निर्मित है। इस प्रकार आत्मानुभूति व्यक्ति को प्रकृति से विमुख करने के स्थान पर उसके अस्तित्वगत सम्बन्ध की गहरी समझ प्रदान कर सकती है। यहाँ आध्यात्मिकता बाह्य जगत् के निषेध का पर्याय नहीं है; वह जगत् के स्वरूप को अधिक गम्भीर स्तर पर समझने का प्रयास है।

12. प्रकृति और आध्यात्मिक साधना

वैदिक वाङ्मय में प्रकृति केवल दार्शनिक चिन्तन का विषय ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक साधना का वातावरण भी रही है। आरण्यक साहित्य का नाम ही “अरण्य” अर्थात् वन से सम्बन्धित है। वन वैदिक परम्परा में एक ऐसे जीवन-क्षेत्र का प्रतीक बनता है जहाँ बाह्य सामाजिक व्यस्तताओं से दूरी प्राप्त करके यज्ञ, ध्यान, मनन और आत्मचिन्तन की प्रक्रियाओं को अधिक गम्भीरता से विकसित किया जा सकता था। प्राकृतिक वातावरण में स्थित ऋषि सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल और वनस्पति जैसी शक्तियों का केवल निरीक्षण नहीं करते थे, बल्कि उनके भीतर निहित व्यापक अर्थों का चिन्तन करते थे। प्रकृति की शान्तता और उसकी नियमित गतिशीलता साधक के भीतर भी एकाग्रता और अनुशासन की भावना उत्पन्न कर सकती थी। दिन और रात का क्रम, ऋतुओं का परिवर्तन, सूर्य का उदय-अस्त, वर्षा का आगमन और वनस्पतियों का विकास जीवन की अनित्यता और निरन्तरता दोनों का बोध कराते थे। इस प्रकार प्रकृति स्वयं एक प्रकार की मौन शिक्षिका बन जाती है। वह मनुष्य को परिवर्तन, नियम, धैर्य, सह-अस्तित्व और पुनरुत्पत्ति का पाठ पढ़ाती है। वैदिक तथा उपनिषद् परम्परा में आध्यात्मिक ज्ञान इसलिए केवल ग्रन्थाध्ययन से प्राप्त होने वाली बौद्धिक उपलब्धि नहीं है। प्रकृति, जीवन और अन्तःचेतना के बीच सम्बन्ध को अनुभव करना भी ज्ञान की प्रक्रिया का अंग है। इस दृष्टि से प्रकृति और आध्यात्मिक साधना का सम्बन्ध अत्यन्त स्वाभाविक और गहन दिखाई देता है।

13. आलोचनात्मक विवेचन

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय ऐतिहासिक एवं दार्शनिक सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को एक ही काल, एक ही विचारधारा और एक ही दार्शनिक प्रणाली की अभिव्यक्ति मानना उचित नहीं होगा। ऋग्वेद के आरम्भिक सूक्तों में जिन अवधारणाओं के संकेत मिलते हैं, वे ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में नये अर्थ ग्रहण करती हैं तथा उपनिषदों में अधिक सूक्ष्म दार्शनिक रूप धारण करती हैं। इसी प्रकार सांख्य दर्शन में विकसित “प्रकृति” की त्रिगुणात्मक अवधारणा को सीधे ऋग्वेद के प्रत्येक प्राकृतिक उल्लेख पर आरोपित करना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं है। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त में विकसित ब्रह्म-आत्म-अभेद की व्याख्या को प्रत्येक वैदिक मन्त्र का मूल अर्थ मानना भी सावधानीहीन होगा। वैदिक वाङ्मय में विचारों का विकास रैखिक नहीं है। विभिन्न ग्रन्थों में एक ही अवधारणा के अनेक स्तर और अर्थ दिखाई देते हैं। इसलिए ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति का अध्ययन **विकासात्मक, सन्दर्भपरक, तुलनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टि** से किया जाना चाहिए। इस पद्धति से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक चिन्तन में बाह्य प्रकृति से आरम्भ होने वाली जिज्ञासा धीरे-धीरे मनुष्य की आन्तरिक चेतना और अस्तित्व के परम आधार की खोज की ओर अग्रसर

होती है। इस प्रक्रिया में प्रकृति का महत्त्व समाप्त नहीं होता, बल्कि उसका दार्शनिक अर्थ और अधिक गहन होता जाता है। अतः वैदिक वाङ्मय को आधुनिक दार्शनिक अवधारणाओं के साँचे में ढालने की अपेक्षा उसके अपने ऐतिहासिक और भाषिक सन्दर्भ में समझना अधिक उचित है।

14. निष्कर्ष

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध भारतीय दार्शनिक चेतना के विकास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारा को व्यक्त करता है। ऋग्वेद में सृष्टि के मूल कारण, विराट पुरुष, ऋत और विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठते हैं, वे आगे चलकर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में अधिक सूक्ष्म दार्शनिक रूप ग्रहण करते हैं। नासदीय सूक्त सृष्टि के मूल की जिज्ञासा को सामने रखता है, पुरुषसूक्त सम्पूर्ण विश्व को विराट पुरुष के साथ सम्बद्ध करता है और उपनिषद् आत्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध को आध्यात्मिक ज्ञान का केन्द्र बनाते हैं। इस क्रम में प्रकृति केवल बाह्य दृश्य जगत् के रूप में नहीं रहती। वह जीवन की आधारभूमि, अनुभव का क्षेत्र और आध्यात्मिक अनुभूति का माध्यम बनती है।

ब्रह्म व्यापक परम सत्ता का बोध कराता है, आत्मा व्यक्ति के अन्तःस्थित चेतन तत्त्व की ओर संकेत करती है और प्रकृति उस व्यापक अस्तित्व की दृश्य तथा अनुभूत अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "तत्त्वमसि", "प्रज्ञानं ब्रह्म" और "अहं ब्रह्मास्मि" जैसे उपनिषद्-वाक्य इस दार्शनिक यात्रा को विभिन्न आयाम प्रदान करते हैं। इनका मूल उद्देश्य मनुष्य को बाह्य विविधता के पीछे विद्यमान व्यापक एकता और अपने भीतर स्थित चेतना के वास्तविक स्वरूप की ओर उन्मुख करना है।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति को परस्पर विरोधी सत्ताओं के रूप में देखना उचित नहीं होगा। इनके मध्य सम्बन्ध वैदिक चिन्तन की समग्रता में विकसित होता है। प्रकृति मनुष्य को जीवन देती है, आत्मा उसे उस जीवन के वास्तविक स्वरूप पर विचार करने की प्रेरणा देती है और ब्रह्म उस सम्पूर्ण अस्तित्व की व्यापक आधारभूत सत्ता के रूप में सामने आता है। इस त्रिकोणात्मक सम्बन्ध के माध्यम से व्यक्ति, जगत् और परम सत्ता के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को समझने का दार्शनिक मार्ग प्रशस्त होता है।

आधुनिक समय में भी इस वैदिक-उपनिषद् दृष्टि की प्रासंगिकता बनी हुई है। प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु मानने के स्थान पर उसे व्यापक अस्तित्व का अंग समझना मानव के दृष्टिकोण में संयम, उत्तरदायित्व और सह-अस्तित्व की भावना उत्पन्न कर सकता है। फिर भी इस प्रासंगिकता का मूल्यांकन ऐतिहासिक सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। वैदिक वाङ्मय को आधुनिक पर्यावरणवाद अथवा आधुनिक दर्शन का प्रत्यक्ष पूर्वरूप मानने की अपेक्षा उसमें निहित आध्यात्मिक और नैतिक संकेतों को वर्तमान सन्दर्भ में पुनर्पाठित करना अधिक उचित होगा।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि वैदिक वाङ्मय की दार्शनिक चेतना बाह्य प्रकृति से आरम्भ होकर अन्तःस्थित आत्मा और वहाँ से व्यापक ब्रह्म की अनुभूति की ओर अग्रसर होती है। यह यात्रा वस्तुतः मनुष्य, प्रकृति और परम सत्ता के बीच एकत्व की खोज है। इसी खोज में वैदिक वाङ्मय की आध्यात्मिक गम्भीरता, दार्शनिक व्यापकता और सांस्कृतिक स्थायित्व निहित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद-संहिता। सायणाचार्यकृत भाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
2. यजुर्वेद-संहिता। सायणाचार्यकृत भाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
3. अथर्ववेद-संहिता। सायणाचार्यकृत भाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
4. ऐतरेय उपनिषद्। शांकरभाष्य सहित। वाराणसी: आनन्द आश्रम/चौखम्बा संस्करण।
5. बृहदारण्यक उपनिषद्। शांकरभाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़।
6. छान्दोग्य उपनिषद्। शांकरभाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़।
7. तैत्तिरीय उपनिषद्। शांकरभाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़।
8. ईशावास्योपनिषद्। शांकरभाष्य सहित। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़।
9. मैक्डॉनेल, ए. ए. वैदिक पौराणिकता। स्ट्रासबर्ग: कार्ल जे. टूबनर, 1897।
10. कीथ, ए. बी. वेदों का धर्म और दर्शन। कैम्ब्रिज: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1925।
11. गोण्डा, जान। वैदिक साहित्य। वीसबाडेन: ओट्टो हारासोविट्ज़, 1975।
12. पाणिक्कर, रैमोन। वैदिक अनुभव: मन्त्र-मञ्जरी। बर्कले: कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 1977।
13. अरविन्द, श्री। वेद का रहस्य। पाण्डिचेरी: श्री अरविन्द आश्रम।
14. उपाध्याय, बलदेव। वैदिक साहित्य। वाराणसी: शारदा प्रकाशन।
15. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र। वैदिक संस्कृति। वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन।
16. शर्मा, चन्द्रधर। भारतीय दर्शन: आलोचनात्मक सर्वेक्षण। नई दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।
17. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली। भारतीय दर्शन, भाग-1। नई दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्स।
18. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ। भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1। कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।